Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2018 SISRRJ | Volume 1 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

समकालीन हिन्दी कविता और स्त्री विमर्श

रूमा ज़ैदी
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग,
मोनाड विश्वविद्यालय, हापुड़ (यू0 पी0) इंडिया

शोध आलेख सार – समकालीन कविता में अब नये प्रकार के और अनेक प्रकार के स्वर सुनाई देने लगे हैं। यह वर्तमान है दौर स्त्री विमर्श के लिहाज से पहले ही अधिक समावेशी और लोकतात्रिक हुआ है। लैंगिक विभेद और देह मुक्ति अवधारक इस विमर्श को एक नया आमाम देती है। अतिवादी विचारधाराओं में मर्दवाद को समाप्त करने की ललक इतने आगे निकल जाती है लगता है वह मर्द को ही खतम कर देगी अच्छा है मर्द न रहे और इंसान बचा रहे।

मुख्य शब्द– समकालीन, कविता, स्त्री, साहित्य, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा,हिन्दी।

भारतीय साहित्य में स्त्री चिंतन की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही है। हिन्दी साहित्य नारी चिंतन की एक लम्बी परम्परा है। आज़ादी के समय से लेकर आज तक स्त्री विमर्श की एक सुदीर्घ परम्परा है। स्त्री विमर्श में अनेक प्रकार साहित्यिक विधाओं के माध्यम से चिंतन को रेखाकित किया गया है। कहानी, उपन्यास, आत्मकथा और कविता, इन्ही साहित्य की विधाओं में सर्वाधिक व महत्वपूर्ण विमर्शकारी स्वरूप सामने आता है। इन सभी विधाओं में स्त्री विमर्श अपने अपने तरीक़े से सामने आता है। सबसे मर्मस्पर्शी तरीके से स्त्री चिंतन का स्वरूप समकालीन कविताओं के माध्यम से व्यक्त हुआ है।

साहित्य में चिंतन जब से आरम्भ होता है, उसका रेखाकन हम कोई समय निश्चित कर के नहीं कर कर सकते। हाँ इतना अवश्य है कि एक समय सीमा अवश्य बनाते हैं वह भी मोटे तौर पर। समकालीन रचनाओं में स्त्री विमर्श के स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम समकालीनता की रेखा अवश्य खींच लें। इस एक काल विशेष की रचनाओं को समझने और उसके विश्लेषण में आसानी होगी। प्रश्न यह है कि हम समकालीनता का निश्चयीकरण कैसे करें। किस समय विशेष से हम रचनाओं को समकालीनता स्वीकार करें। समकालीन का सरलीकृत तरीके से अपने अपने सुविधा के अनुसार इसकी समय सीमा को कम या अधिक के किया जाता है। आवश्यकता के अनुसार इसकी सीमा काफी विस्तार न सीमित कर दी जाती है। ''कोशगत अर्थो समकालीनता और

समसामयिकता को अंग्रेजी के ''कन्टम्प्रोरिनिटी'' (Contermporanetty) अथवा ''को–ईवाल'' (Coeval) का समान वाची माना गया है जिसका अर्थ है ''उसी समय या कालखण्ड में होने वाली घटना या प्रवृत्ति या एक ही कालखण्ड में जी रहे व्यक्ति।'' यह अर्थ समकालीनता को निश्चित कालखण्ड में समेटता है।''[1] **(स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, राजकमल प्रकाषन, नई दिल्ली सं0 2003, पृ0–15–16)**

समकालीनता अपने आप में एक खास प्रश्न है। अनेक विद्वानों ने इस पर अपने मत दिये हैं। डॉ0 नरेन्द्र मोहन कहते हैंः ''समकालीन का अर्थ किसी कालखण्ड या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं का चित्रण भर नहीं है, बल्कि उन्हें ऐतिहासिक अर्थ में समझना उनके मूल श्रोत तक पहुँचना और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना है। समकालीनता तात्कालिकता नहीं है।''[2] **(समकालीन कहानी की पहचान. डॉ0 नरेन्द्र मोहन, भूमिका पृ0–2)**

डॉ0 नगेन्द्र समकालीनता की पहचान आधुकिता से जोड़ते हुए करते हैं। इसमें वे युगवोध को भी शामिल करते हैं। लेकिन समाकालीनता, समकालिकता और आधुनिकता बोध अलग अलग है। समकालीन होना आधुनिक हो जाना नहीं है और आधुनिक होना समकालीन होना नहीं। कोई रचनाकार जिन सम्बन्धों में आधुनिक होता उन्हीं सम्बन्धों में वह प्रासांगिक भी होता है। जैसे कबीर प्रासंगिक हो सकते हैं क्योंकि उन में आधुनिकता बोध है लेकिन वे समकालीन नहीं स्वीकार किये जायेंगे।

समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री जीवन की अनेक छवियाँ सामने उभर कर आती है। अनेकसः संघर्ष करती स्त्री अपने अधिकार व समस्त प्रकार के बंधन से मुक्त होकर मनुष्य की तरीके से जीने की आकांक्षा के साथ सामने आती है। वह देह मुक्ति के साथ लिंग से भी मुक्ति की आशा रखती है। ''राजनीतिक या समाजिक समस्याओं को उठाने के स्थान परिवेश और समाज के अनेक छोटे छोटे संदर्भों को अपनी कविता का विषय बनाना चंद्रकला को अधिक प्रिय है। इन संदर्भों के माध्यम से ही वह किसी संदर्भ तक पहुँचना चाहती है। बाहरी दुनिया की अपेक्षा कवपित्री मुक्ति अन्तर में झांकना चाहती है और आंतरिक जगत की विविधता को उभारना चाहती है।''[3] **(समकालीन कविता का सच, डॉ0 गुरूचनण सिंह, पृ0 108)**

व्याक्ति के अंतरंग व वहिरंग का एकाकर ही जीवन का वास्तविक साक्षात्कार है। स्त्री चिंतन इसी समानता के निमर्श को आगे बढ़ाता है। जहाँ किसी प्रकार के द्वैध या दुविधा का भाव नहीं रह जाता। मनुष्य केवल मनुष्य के रूप में देखा और स्वीकार किया जाता है। जहाँ सभी समाजिक व जागतिक तथा मानव सभ्यताओं द्वारा निर्मित बंधन समाप्त कर दिये जाते हैं। किसी प्रकार की सत्ता की कोई भी वर्चस की एक बूँद भी नहीं रह जाती।

समकालीन हिन्दी कविता में मानव का चित्रण विविध ढंग से हो रहा है। इस दौर की रचनाओं में स्त्री जीवन का स्वरूप काफी हद तक वर्तमान के भूमण्डलीकृत व्यवस्था के अनुरूप चित्रित हो रहा है। भूमण्डलीकरण ने भारत ही नहीं समूची दुनिया में बाजारवाद को जन्म दिया है। इसने पूरी दुनिया में उपभोक्तावाद को पैदा किया है। नवउदारवाद और पूँजी के मुक्त व्यवहार और व्यापार में महिलाओं का उपयोग पूरी तनमयता से किया जा रहा है। आज समाज का प्रत्येक हिस्सा भूमण्डलीकृत व्यवस्था से गहरे स्तर तक प्रभावित है। ''भूमण्डलीकरण जीवन के हर कोने में अस्तित्व के हर रूप का वस्तुकरण करता है।''[4] **(बाजार के वीचन्बाजार के खिलाफ प्रभा खेतान, वागी प्र0 नई दिल्ली संख0 2004, पृ0 32)**

आज मुक्ति के लिए संघर्षरत नारी के लिए बाजार अनेक प्रकार के नारे गढ़ता है और उसके बहाने महिलाओं का इस्तेमाल अपने व्यापार व मुनाफे के लिए करता है। उन्मुक्ता का और देह स्वातंत्र का कुपाठ करके

वह भोगवादी संस्कृति को बढ़ावा देता है और स्त्री को अपने हक में इस्तेमाल करता है। ''भोग और प्रदर्शन को नारी मुक्ति का पर्याप बना दो और उन्मुक्त भोग उपभोग को आधुनिकता की अन्यतम उपलब्धि ठहराओ, इसी में सबका कल्याण है।''[5] **(आउट लुक दिसम्बर 2005, नारीमुक्ति और बाजार मनोहर श्याम जोषी, पृ0 28)**

यह जितना सही है कि स्त्री भारतीय समाज में जितना दबी रही है उतना ही उसके दवेपन को इस्तेमाल भी किया गया है। उसकी उनमुक्ता व मुक्ति के नाम पर जैसे जैसे देश में नारी आंदोलन चलते हैं, स्त्री जीवन के अनेक बंधनों को तोड़ने की बात उठती है। वैसे वैसे समूची समाजिक व पूंजीगत व्यवस्था बड़े ही सचेत ढंग से इस परिवर्तन को अपने पक्ष में करने के उदमत हो जाती है। प्रगतीवादी एवं स्त्रीवादी आंदोलनों ने स्त्री विमर्श को एक नमा आभाम दिया। साठ सत्तर के दशक के बाद यह स्त्री आंदोलन एक नया और मुखर स्वरूप धारण करता है। इस में अब पहले जैसा शर्मीला व लचीलापन नहीं रहता। उदारीकरण के बाद, खासकर 90 के दशक के बाद से स्त्री विमर्श की सभी वंधी वधाई मान्यताएँ टूटती है और स्त्रियाँ अपने जीवन के विमर्श को बढ़े ही इंकलाबी तरीके से बढ़ाती है।

स्त्री अनेक प्रकार से संघर्ष करती है अपने लिए बंद दरवाज़ों को खोलती है वह समाजिक संबन्धों को सुलझाने का प्रयास तो करती ही हैं वह व्यक्तिगत जीवन व पारिवारिक जीवन के उलझे पहलुओं से मुक्त होने का प्रयास करती हैं। इसमें स्त्री जीवन की अपनी एक अस्मिता भी उभर कर सामने आती है।

''धीरे धीरे
मेरे कंधे से
उतर रहा है मेरा घर
धीरे धीरे उतर रही है चमड़ी
मेरे ये कपड़े
मेरे सामने
घुटनों के बल बैठे
कह रहे हैं कि अब बहुत हुआ।''[6] **(अबुद्वदुप अनामिका, राजकमल प्र0, नई दिल्ली पृ0 56)**

अनामिका की यह कविता जितना अपना अर्थ देती है उससे कहीं अधिक कुछ महत्वपूर्ण अर्थों को ध्वानित करती है। स्त्री अब केवल एक घर की विषयवस्तु नहीं है। इसमें सबसे महत्व की बात यह दर्शायी गयी है कि स्त्रियाँ अब ''हाउस वाइफ'' के टैग से मुक्त होना चाहती हैं। इस कविता के अंत में कह भी बैठता है 'अब बहुत हुआ''। इसका तात्पर्य यही है कि अब तक बंधन व दासता जो वेमकसद तहज़ीबी लिबास ओढ़ाया गया था उसे अब उतार देने का समय आ गया है। उसमें एक खीझ भी है और गुस्सा भी। यह अभिव्यक्तियाँ मौलिक रूप से उसी जकड़वंदी के खिलाफ है जिसमें औरत को इन्सान नहीं माना गया। इस प्रकार की कविताएं मर्दवादी परिवेश व व्यवस्था का प्रतिकार करती है।

''जैसे कि मजदूरनी
तोडती है पत्थर
मैने तोड़ा खुद को
टूट टूट कर!
धूल धूल कंकड़ी कंड़ी हुई
एक चारपायी के पाये के नीचे

मुझको दबाकर

बढ़ाया गया उसका कद।''[7] **(खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राजकमल प्र0 नई दिल्ली पृ0 42)**

यह कविता पितृस्त्तात्मक समाज की उन सभी रवायती क्रूरताओं को रेखांतिक करती है जिसने स्त्री को छला है। ''पाए के नीचे/मुझे दबा कर'' जैसी बातें अत्यंत मार्मिक व निस्सहापता की द्ववग्ंथ है और उसके अंगड़ाई की पहचान भी है वह अब जान चुकी है स्त्री को कितना और किस प्रकार से दबाया गया। केवल और केवल पुरूषवादी मांसिकता और वर्चस्व की एकाधिकार स्थापना के लिए जो स्त्री मर्दवादी व्यवस्था की शिकार है वह उससे उबरने का भी प्रयास करती है। उन तमाम विषम परिस्थितियों से मुक्ति के लिए संघर्ष का रास्ता चुनती हैं।

''एक गुमसुम गुस्सा
उबल रहा है धीरे–धीरे
जैसे उबलते हैं
मुट्ठी भर चावल
शरणार्थी शिविर के बाहर
मिट्टी की हाडी में
लकड़ियों की आग पर
धीरे धीरे लेकिन लगाता''[8] **(वही, पृ0 181)**

स्त्री जीवन अपनी अस्मिता और स्वल्ववोध को लेकर काफ़ी सतर्क हैं। उसमें धीरे धीरे इस पितृसत्ता के शोषणकारी चरित्र की समझ बनी है। इस समझ के विकसित होने के साथ ही उसमें उस व्यवस्था के ख़िलाफ काफ़ी गुस्सा भी है। इस गुस्से को उसने पालना भी सीखा है और सभी प्रकार की कुव्यवस्थाओं से लड़ने का हुनर भी इजाद करने का प्रयास किया है।

समकालीन कविता में स्त्रियों के द्वारा लिखी गयी कविताओं में अधिक मार्मिकता और अनुभूति की प्रामाणिकता है। उसमें स्त्री जीवन की आकांक्षा स्वभाविक रूप से बयाँ हुई है।

''चली जाती हूँ
उन घाटियों में भटकने
जहाँ कतई उम्मीद नहीं है उससे निकलने की
मेरी कल्पना ने जिसे चुना है
जाती हूँ लौटने हर बार नये सिरे से
उन्हीं अक्षरों के बीच
जिनसे मिलती जुलती हूँ
मिलती हुलती है जो कितनी उन निम्नों से फिर
जिनके अर्थ छिपे रहते है
उजागर होकर भी''[9] **(स्वप्न समय सविता सिंह, राधा कृष्ण प्रकाषन, नई दिल्ली, सं0 2013, पृ0 53)**

यह स्त्री जीवन की स्वाप्निल सच्चाई है इस प्रकार की रचनाओं में कवयित्री ने स्त्री की स्वाभाविक आकांक्षा और यथार्थ के स्वरूप को पहचाना है और उसे अपनी रचना का उपजीव्य बनाया है। आदर्श और वास्तविक जीवन के अंतर को मिटाने का संघर्ष ही स्त्री विमर्श का केन्द्रीय बिन्दु है। मुक्ति के मार्ग को प्रसस्त करने की एक ललक है जो कि अत्पंत उत्कट है। कुछ इस प्रकार यह भावना व्यक्त हुई है।

''कुछ और नहीं होता
तब कुछ और करने लगती हूँ
सोचती यह आसान होगा
सोचती इसमें मिल जायेगी कोई राह
थोड़ी दूर चलकर फिर अशक्त हो जाती हूँ
हाथ बांधे उधर मिलती है मेरी ही कोई कामना
महत्वाकांक्षा कोई गर्दन झुकाये
मिलती हैं आस्थापों ही बमतलब खड़ी
आंसू भरे नयन मिलती हैं
बिखरी हुई कोई सुन्दर इच्छा''[10] **(अपने जैसा जीवन–सविता सिंह, राधाकृष्ण प्र0, नई दिल्ली, सं0 2009, पृ0.32)**

स्त्री की चिंता अपने जीवन की उन राहों को तलाशने की जिसपर चलकर वह मनुष्यता का भाव आर्जित कर सके चारों तरफ़ उसके सपनों का मानमर्दन ही दृष्टिगोचर होता है। वह उसके निकलने के लिए पूरी व्यग्रता से पंथ अमवेषण कर रही है इस दौर की कविता में स्त्रियों को पारिस्थितियों पर मात्र रूदन करने वाली की तरह से ही नहीं पेश किया जा रहा बल्कि उन तमाम विपरीत परिस्थितियों से टकराने की क्षमता का भी निरूपण हो रहा है।

''मैं औरत हूँ
नहीं है मेरे पास
दो चेहरे
दो मुँह
और दो तरह का जीवन
मैं जो हूँ–हूँ
जो नहीं हूँ नही हूँ
मुझे अफसोस नहीं
कि मैं सीता सावित्री के
साँचे मे फिट नहीं बैठती
बक इतना काफी है
कि मैं मनुष्य हूँ।''[11] **(जब मैं स्त्री हूँ, रंजना जयसवाल, नयी किताब, नई दिल्ली, सं0 2009, पृ0–32)**

स्त्री विमर्श में कविता के माध्यम से ऐसी प्रतिरोधी भावना उन सभी पुरूषवादी संस्थाओं के खिलाफ़ विद्रोह है जो स्त्री समाज को दलता है। इस छल और प्रपच में जितने आदर्श और प्रतीक गढ़े गये हैं, उनका भी नकार इसमें दर्ज है। बड़े ही मजबूती के साथ में नकार स्वीकारोक्ति के साथ अभिवक्त किये गये हैं। प्रतिकार और तंजिपा लहजे में स्त्रियाँ अपने जीवन की निर्मम सच्चाई को कुछ इस प्रकार बयाँ करती हैं।

''बता सकते हो
सदियों से अपना घर तलाशती
एक बेचैन स्त्री को

उसके घर का पता।''[12] **(नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द, निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञनपीठ, नई दिल्ली, सं0 2012, पृ0–7)**

समकालीन कविता में आज तक अनुत्तरित सवालों को उठाया जा रहा है। यह कविताएँ मर्दवादी समाज के संस्कारों को काफ़ी गहरे चोट कर रही है और सवाल उठा रही है। स्त्री जीवन के बंधन को समझा भी ठीक ढंक से जा रहा है उसकी अभिव्यक्ति भी बड़े ही सलीके से हो रही। जैसे स्त्री विमर्श की समकालीन परम्परा और प्रौढ़ हो रही है वैसे वैसे बंधन से मुक्ति आकांक्षा और बलवती एवं मुखरित भी हो रही है। यह कविता देखने योग्य है।

''यह स्त्री सब कुछ जानती है
पिंजड़े के बारे में
जाल के बारे में
मंगल गृहों के बारे में
रहस्य है इस स्त्री की उलटवाँसियाँ
इन्हें समझो
इस स्त्री से डरो।''[13] **(दुर्गद्वार पर दस्तक कात्यामनीं, पृ0 15)**

समकालीन कविता जितना पितृसत्तात्मक समाज से लड़ रही है उतना वैश्वीकृत बाजारवादी जमाने से भी। यह लड़ाई दोहरी है। इसमें सत्ता–प्रतिस्ठानों से मुक्ति की गुहार भी है और अधिकार प्राप्ति का उद्घोष भी।

''हाँ मैं बाग़ी हूँ
समाज के बनापे ये चौखटों में फिट न हो सकी
चाहा प्रेम के बदले प्रेम
समर्पण के बदले समर्पण
मैं विद्रोही हूँ।''[14] **(जब मैं स्त्री हूँ, पृ0 26)**

यह विद्रोही चेतना अकारण नहीं है। इसके मूल में अतीत की वितृष्णा मौजूद है। यह क्षोभ समकालीन कविता में बड़े ही संस्लिष्ट ढंग से व्यक्त हुआ है। जहाँ पर रूढ़िवादी सामाजिक ताने बाने की जई परम्परा का अंकन भी है। और उपभोक्तावादी चरित्र के दोहन की निशानदेही भी।

''अब बाजार स्त्री के कदमों में है
उसके केश सहलाता उतारता कपड़े
सामान कोई भी हो
बेची जाती है हमेशा स्त्री''[15] **(स्त्री मुक्ति का सपना, पृ0 163)**

इस पूरे समाज में मनुष्य की तरीके से जीने के अभ्यास में स्त्री अपने संघर्ष पथ पर अनवरत चल रही है।

''खत्म होती जा रही है
समय से पूर्व स्त्री
तालमेल बिठाने में
दुनिया बदल गयी है
दो दो वारों में
धीरे धीरे आगे बढ़ती
गली को संकरा करती

जहाँ खड़ी है वह।''[16] **(जब मैं स्त्री हूँ, पृ0 75)**

आज अनेक प्रकार से हिन्दी कविता स्त्री विमर्श को समृद्व कर रही है। जल जंगल, जमीन आदि अनेक प्रश्नों को रेखांकित किया जा रहा है। देश को प्रभावित करने वाले सामूहिक मुद्दों को स्त्री विमर्श के माध्यम से उठाया जा रहा है

''कुर्सियां हैं तभी देश चलता है और
तभी चलती है नेताओं की नेतागीरी
कुर्सी हो तो है जिसके केन्द्र में घूमती है
देश की राजनीति और उसके प्रभाव से
गिरता उतरता है देश का तापमान।''[17] **(बेघर सपने पृ0 28)**

समकालीन कविता में अब नये प्रकार के और अनेक प्रकार के स्वर सुनाई देने लगे हैं। यह वर्तमान है दौर स्त्री विमर्श के लिहाज से पहले ही अधिक समावेशी और लोकतात्रिक हुआ है। लैंगिक विभेद और देह मुक्ति अवधारक इस विमर्श को एक नया आमाम देती है। अतिवादी विचारधाराओं में मर्दवाद को समाप्त करने की ललक इतने आगे निकल जाती है लगता है वह मर्द को ही खतम कर देगी अच्छा है मर्द न रहे और इंसान बचा रहे।